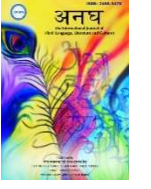




## अनघ

(An International Journal of Hindi Language, Literature and Culture)

Journal Homepage: <http://cphfs.in/research.php>



## खण्डहरों की खेती

प्रो. गंगा प्रसाद विमल

सेवानिवृत्त प्रोफेसर,

भारतीय भाषा केंद्र,

भाषा साहित्य और संस्कृति अध्ययन संस्थान,

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

ठेठ गाँव जो स्मृति में बसा हुआ, उसे देखने की ललक विस्मय से सामना करने जैसी ललक थी। बरसों बाद आप अपनी बरसों पहले की चीज़ें देखने की जो मूर्खतापूर्ण अपेक्षा अपने मन में बसा लेते हैं, वही जब छीजने के कगार पर आती है तो तब यह याद नहीं रहता कि जो आड़ का पेड़ हम अपने बचपन में छोड़ आए थे ज़रूर बूढ़ा टूट हो गया होगा। परंतु विचित्र यह था कि सामने की पहाड़ियाँ वैसी ही थीं। उनके पीछे के हिमालय शिखर भी वैसे ही थे अपनी दिव्यता से विस्मित करने वाले। यहाँ तक कि दूर तक फैले जंगलों की हालत भी लगभग वैसी ही थी। गर्मियों में कुछेक जंगलों में आग लग जाती है, उनके धुएँ के दृश्य बताते थे कि यहाँ आग लग चुकी है। कुछ जल चुके थे। कुछ देर-सवेर जलने ही वाले थे।

सिर्फ सड़कें अच्छी बन गई थीं। गाँव के किनारे तक तारकोल की चमकती हुई सड़क थी जिस पर पैदल चलने वाले कभी-कभार दिखाई देते थे। आलीशान कारों जीपों के नये-नये 'मॉडल' वहाँ दिखाई देते हैं। सामान ढोने वाले छोटे-छोटे ट्रक भी दिखाई दिए।

गाँव के शुरुआती लक्षण गन्दगी और गरीबी में थोड़ा परिवर्तन आया। लोगों के पास आधुनिक कपड़े यानी पोषाकें थीं। जूता खासतौर से ब्रैण्डेड कंपनियों के दिखाई दे रहे थे। बूढ़ों और स्त्रियों की पोषाकों में पुरानेपन की झलक थी। सड़क के किनारे बने घर हैसियत के मुताबिक बनाए गये थे। उनमें थोड़ा शहराती पुट था। खासकर खिड़कियों के मामले में। खिड़कियों पर 'ग्रिल' षायद सुरक्षा की दृष्टि से ज़रूरी था। आधुनिक सभ्यता ने चोरी चकारी की घटनाओं में जो बढ़ोतरी दी थी वह भी एक कारण था कि नागरिक सुरक्षा विधियों को अपनाने की ज़रूरत थी।

चैंकाने वाली बात थी। घरों की छतों। पारंपरिक स्लेट वाली छतों की जगह अब सीमेंट की लैंटर वाली छतों का रिवाज बढ आया था। परंतु जैसे ही हम गाँव के करीब पहुँचे -- कहना चाहिए पुराने गाँव के करीब तो वह एकदम वैसा ही पुराना था किसी पुराने अल्बम में चिपकाए चित्र जैसा। किनारे का मकान उस ज़माने के ख्यात परिवार का था। और अपनी बेजोड़ पैली में बना वह मकान आज भी पुरानेपन के कारण कीमती था परंतु असल बात थी कि उस मकान से आभिजात्य की जो छवि पहले दिखाई देती थी वह बरकरार थी।

मुझे अपने बचपन के दिन याद आने लगे। वे दिन एक साथ याद इसलिए नहीं आए कि अभी मुझे बेतरतीब सामान को तरतीब देनी थी, और वे ही चीज़ें बाहर निकालनी थी जिनकी ज़रूरत थी। इस पल में मैं अपने पूर्वजों की सारी छवियों को याद की झालरों से पकड़ नहीं सकते क्योंकि बीच में झमाझम दूसरे वाक्यात हमें अचानक रुकावट डालने वाले याद आने लगते। याद आते कहते हैं... कहा न

मुझे अपने बचपन की स्मृतियों ने घेर लिया। उनमें सबसे महत्वपूर्ण थी। एक अनाम-सी भीड़। वह भीड़ इस वक्त नदारद थी। पर हर बार जब भी पहले गाँव आते तो ढेर सारे लोगों से सामना होता। न जाने कहाँ से इतनी चाचियाँ, चाचे, ताऊ, भानजे- भानिजयाँ इकट्ठे हो जाते कि लगता शहरों से हर हालत में गाँव बेहतर हैं। थोड़ा भी पड़ोसी से रार बड़े तो बुला लो अपने संबंधियों को... वे सब-के-सब इकट्ठे उस खलिहान में या छज्जों पर बैठ जाते। कोई एक उठता तो दूसरा वहाँ आ बैठता। हम अपने दैनिक काम निपटाकर फिर भीड़ का हिस्सा बन जाते। गाँव में रहते तो पूरी तरह से एक समुदाय के साथ बैठ जाते... और यह निश्रयोजन भी होता और सप्रयोजन भी। कभी-कभी तो उत्सव की तरह। परंतु इस बार मकानातों की ओर बढ़ते हुए अजीब-सा सन्नाटा पसरा हुआ था। ज्यादातर दरवाजों की सिटकनियाँ बंद लग रही थीं। दूर से सांकल न दिखाई देने के कारण ऐसा महसूस हो रहा होगा। कुछ और करीब जाने पर मुझे एक छत के कोने में एक शिशु अपने छोटे से गद्दे पर लेटा दिखाई दिया जिसके ठीक सामने रखवाले के रूप में एक झबरीला कुत्ता बैठा हुआ था। कुछ विचित्र ही दृश्य कहूँगा मैं उसे क्योंकि छत की दीवार की खुली मुंडेर पर मैंने एक भूरी बिल्ली भी शिशु की तरफ टकटकी लगाये बैठे देखी थी। उस दीवार के सामने के आड़ू के पेड़ की एक टहनी पर जैसे कौबे का मुँह भी उसी तरफ था और अचरज था कि सोये हुए शिशु के करीब कोई दूसरा व्यक्ति या पशु जात का कोई भी प्रतिनिधि नहीं था। उस दृश्य के पास से गुजरते हुए मैंने दरवाजों के करीब साँकलों के बाद होने के दृश्य भी देखे थे।

क्या मैंने ताला लगा भी देखा होगा ? मैं इस बारे में सोच ही रहा था कि दूसरे घर के द्वार के आले और धुएँ की लंबी लकीर दिखाई दी। इसे इस तरह विकसित होने में काफ़ी बरस लगे होंगे। तालों को देख लगा जैसे वह किसी दूसरी जगह पहुँच गया हो। इस इलाके में लोग घरों में ताले नहीं लगाते थे। सिर्फ़ दरवाजे बंद करते थे कि जानवर न घुस जायें...।

“बहुत पुरानी बात होगी।” उसने खुद ही खुद को सम्बोधित करते हुए समझाया।

“बहुत पुरानी बात”... ऐसे अंदाज़ में कहा गया वाक्यांश लगा जिसमें पूरे अर्थ झर रहे हों। वह आगे बढ़ आया तब उसने एक खलिहान में बैठी कुछ औरतें देखीं जो कुदरती लगती थी यानी कुदरती दृश्य की तरह एकदम नैसर्गिक।

उसे अपनी बेचैनी छिपाने का अवसर नहीं मिला और नाखुशी में उसने तालों को देखा जैसे वे वहाँ थे ही नहीं। लेकिन वे वहाँ थे।

औरतें भी वहीं थीं। तब भी कुछ खटक रहा था। वह कुछ देर के लिए रुका। उसने अपने हाथ के सामान को जमीन पर टिकाया और

मुड़कर उस तरफ़ देखने लगा जहाँ एक छोटे गद्दे पर शिशु लेटा हुआ था।

शिशु और गद्दा तो नीची जगह पर होने के कारण उसे नहीं दिखाई दिए। पर दीवार की मुंडेर पर बिल्ली अभी भी अपलक उसी दिशा में देख रही थी। फिर वहाँ से कौबवा खोजना चाहा। वह भी नहीं दिखाई दिया। बहुत मुमकिन हो दिशा बदलने की वजह से ऐसा हुआ हो। या वह उड़कर किसी दूसरी दिशा की ओर लपक लिया हो।

लेकिन तभी मुझे कौए की आवाज़ सुनाई दी। वह वहीं था। उसकी आवाज़ से ही मुझे अहसास हुआ कि गाँव के इस भाग में सन्नाटा पसरा हुआ है। मैंने अपना सामान उठाया और आगे बढ़ ही रहा था कि कौए की आवाज़ ने मुझे मुड़कर देखने के लिए विवश कर दिया। आप पहाड़ों के रास्तों पगडण्डियों से परिचित हों तो थोड़ा ऊँचे थोड़ा नीचे रास्ते की प्रकृति इस पर निर्भर करती है कि खेतों की मुंडेरों के बाद की ढलान पर कितनी जगह है ? अगर ढलान बड़ी है तो सड़क चौड़ी होगी। अगर ढलान सँकरी है तो रास्ते के लिए ऊपर या नीचे की ओर सीढ़ियाँ या ढलुवे रास्ते का निर्माण किया गया होगा। मैंने मुड़कर देखा तो मुझे गद्दा और शिशु दिखाई दिए। कौआ भी। वहाँ ठिठकने की बजाय मैं सीधे बच्चे की दिशा में लौटा तो जाने कहाँ से एक गुराँता हुआ कुत्ता तेज़ी से सामने आया। और मेरे आगे खड़े होकर गुस्से में सिर्फ़ गुराँता भर रहा।

शिशु नींद में लीन था। नींद में खलल न पड़े इसी कारण कुत्ता भौंक नहीं रहा था। वह मेरी तरफ भी जासूसी निगाह से उपेक्षा भरी शैली में कभी मुड़कर देखता पर अब गुराँ भी नहीं रहा था। जैसे वह बेमतलब रार न बढ़ाना चाहता हो।

गाँव के रास्तों पर सन्नाटा-सा पसरा हुआ था। और इसी से मेरी बेचैनी बढ़ रही थी। कुछ पल वहाँ खड़े होकर मैं जैसे ही जल्दी जाने के लिए मुड़ा किसी की आवाज़ सुनाई दी -- “अरे भई पहचान नहीं रहे हो ?” उन्हीं घरों से वह आवाज़ आई तो मैंने अपना सिर घुमाया। कुछ ज़्यादा ही उम्र का आदमी अपनी आँखों पर हथेलियों की छत्री बना कर मुझे दूर से घूर रहा था।

“नमस्कार,” मैं आदतन बोला -- “क्या हाल चाल है ?”

“तो पहचान लिया क्या ?”

उसके यह कहते ही मुझे उसकी आवाज़ से वर्षों पहले का उसका चेहरा याद आया।

वह मेरा बाल सखा ज्ञानेन्द्र था। वह काफ़ी बूढ़ा हो चुका था। खुद के बारे में कभी सोचा ही नहीं कि मैं भी तो उसकी तरह बुढ़ा गया हूँ। पर वह कुछ ज़्यादा ही उम्र का लग रहा था मेरे मुकाबले। न दर्पण पर देखने पर अपना बूढ़ा होना दिखाई दिया। अभी इस पल यह बात

उभरी तो जान पाया कि खुद को आदमी हमेषा उस बेहतर समय पर रखता है जिस छवि को वह आदर्श समझता है। पहली बार महसूस हुआ कि ऐसे ही परिवर्तन की लकीरें खुद के चेहरे, लिबास और चाल-ढाल पर छपी पड़ी होंगी ? पर उन्हें देखने की फुर्सत हो तब न।

उसके पास आने से पहले ही मैं उसकी ओर बढ़ गया। अब वह छत जहाँ बच्चा लेटा था एकदम सामने थी।

“यह बिल्ली,” मैंने ज्ञानेन्द्र को बिल्ली की ओर देखने का संकेत किया।

“अजीब बात है,” वह बोला, “बिल्ली, कुत्ता और कौआ सब इस बच्चे के पहरेदार हैं...।”

“बच्चा बड़ा प्यारा है।”

“अरे आपका ही पोता है।” वह बताने लगा। “यह देहरादून वाले वैदराज जी के भाई का पोता है। वैदराज जी तो कभी गाँव लौटे नहीं... और अब तो...” वह कुछ ज़्यादा बोलता की सहसा रुक गया। सामने खलिहान में बतियाती अधेड़ औरतें इधर आ रही थीं। वह वैदराज जी को याद करने लगा। बरसों पहले की वह धुधली याद कोई तस्वीर न उकेर पाई। परंतु तभी वे महिलाएँ एकदम सामने आ गईं...।

वे सब परंपरागत ढंग से हाथ जोड़े कर आगे आकर खड़ी हो गईं।

ज्ञानेन्द्र ने सबका परिचय कराना आरंभ किया। वे सब रिश्ते में बहुओं के दर्जे की महिलाएँ थीं। उनकी प्रौढ़ता उनके बहू होने की सलज्जता की छिपाने में असमर्थ-सी थी क्योंकि सामने आते ही उन्होंने आदरसूचक भाव से अपने सिरों को पल्लू से ढक लिया था।

मेरे पास कुछ भी प्रत्युत्तर में कहने के लिए नहीं था जो नया हो सकता था। इसी कारण मैं इस बात पर बोलने के लिए तैयारी करने लगा कि बच्चे की रखवाली में अभी भी बिल्ली बैठी हुई थी।

एक बहू ने हँस कर पूछने से पहले ही बताना पुरू कर दिया -- “यह बच्चा जब से पैदा हुआ है तभी से यह बिल्ली उसके आसपास रहती है। और कुकर (यानी कुत्ता) तो इसके बिल्कुल करीब लेटा रहता है और अजनबी लोगों को पास नहीं जाने देता।”

बहुएँ सलज्ज मुस्कान से सुसज्जित थीं। वे चुप ही रहीं। तभी बच्चा अपने गद्दे में लेटा करवट बदलते हुए रोने लगा। उसका रुदन सुनकर बिल्ली, कुत्ता और कौवा कुछ बेचैन से दिखे। पर कुछ ही पल के लिए क्योंकि तभी अंदर से दौड़ती हुई उसकी माँ बाहर की ओर आई।

ठीक उस वक़्त कुत्ता उठ कर खलिहान से बाहर चला गया। कौआ फुर्र उड़ गया था। बिल्ली दिखाई नहीं दी।

औरतें और ज्ञानेन्द्र भी शिशु के करीब आ गये जो अपनी माँ को एकटक देखते हुए मुस्करा रहा था।

औरतों के कहने पर उस माँ ने परंपरागत अभिवादन किया और दौड़कर एक आसन ज़मीन पर डाल दिया।

“आपके घर वाले दूसरे गाँव गये हैं। जब तक वे नहीं आ जाते तब तक आप यहीं बैठिए।” वह बोली। “आप मुझे नहीं पहचानेंगे। हम आपके ही थोक के हैं।”

“अच्छा ही हुआ,” मैंने कहा। “यहीं बच्चे की वजह से खड़ा हो गया। ज्ञानेन्द्र ने मुझे बता ही दिया था।”

हम लोग आसन पर बैठ गये। ज्ञानेन्द्र और मैं और दूसरे आसन पर वे औरतें। हमेशा ऐसा ही होता आया था। कहीं भी जाओ, लोग अगर आसपास हैं तो वे और पास आ जाते। अपने आप। सब एक-दूसरे से सब कुछ जानना चाहते। पल भर में वह दूरी मिट जाती। जिसके बीच कई बरस फैले हुए थे। वे घटनाएँ, वे बातें सबकी सब विस्मृति में दफ़न हो जातीं और उभर आतीं उससे पहले की चीज़ें जो उम्र के ऐसे पड़ाव से ताल्लुक रखती थीं जिनका अब या आने वाले भविष्य में कोई मतलब नहीं था।

गृह स्वामिनी कुछ ही देर बात ताज़ा पेय ले आयी थी। ज्ञानेन्द्र अपने लिए हुक्का भी तैयार करने लगा जो पास ही रखा था। हुक्का अभी भी कारगर था। बरसों पहले हुक्के की गुड़गुड़ाहट से लोग दूर से खिंचे आते थे।

ज्ञानेन्द्र के हुक्के ने भी वही काम किया। कुछ ही देर में कुछ लोग उस ओर स्वाभाविक रूप से आ निकले। उनमें से मेरे बाल सखा भी थे।

वे बारी-बारी से हम लोगों के उस अंतरंग का बयान करने लगे जिन्हें पहचानने में मुझे बहुत तकलीफ़-सी होती थी कि क्या सचमुच वह मेरे अतीत का हिस्सा था ? परंतु जो भी हो, अतीत के उस हिस्से को जानबूझ कर ज़्यादा रंगीन बना रहे थे। बस यही एक हिस्सा था जहाँ मैं कमज़ोर था।

“याद आया कुछ ?” जब किसी ने पूछा तो मैं एकदम खाली था और महसूस ही नहीं कर पा रहा था कि उस अतीत में मैं कभी था।... मेरे भीतर एक सवाल कुलबुला रहा था। मैं उस सवाल को शब्दों में बाँधने में इतना असफल-सा था कि मुझे भीतर-ही-भीतर झुँझलाहट भी हो रही थी। वह तो बच्चे के रोने और हँसने की घटनात्मकता थोड़ा आनन्द विभोर कर रही थी। उस पल वही थी जो छोटी या बड़ी-सी घटना थी।

बच्चा अपनी माँ की गोद में किलकारियाँ भर रहा था। माँ के स्तनों से दो घूँट दूध पीकर वह चौकस हो आया था।

“आओ तो...,” मैंने उसका ध्यान अपनी ओर खींचना चाहा, “एकदम आपके पास आ जायेगा... “अभी छोटा है पर जैसे सब कुछ जानता है।”

“आजकल के बच्चे तेज़ हो गये हैं”, कोई बोला, “मैं कुछ दिन से देख रहा हूँ यह एकटक या बिल्ली को देखता रहता है या कुत्ते को...”

“बाक़ी बच्चे नहीं आते पास क्या ?” मेरे मुँह से निकला।

“बात ये है कि इस पूरे गाँव में यह कई साल बाद पैदा हुआ है।”

“क्या मतलब ?”

“भई ज़्यादातर लोग बाहर चले गये। जैसे तुम लोग। तुम्हारे सारे भाई बहन... यहाँ तो कोई नहीं है न ? इसी तरह गाँव के जितने पढ़े-लिखे बच्चे थे वे शहरों में नौकरी करने लगे तो वहीं अपनी बीबी बच्चों के साथ रहने लगे। उनके बच्चे वहीं पैदा होने लगे। और वे वहीं पढ़ने लगे। तो अब देखो न गाँव में तो कोई पैदा ही नहीं हो रहा है। बरसों बाद यह यहीं पैदा हुआ। इसका बाप अपनी बीबी को शहर के अस्पताल में ले जाने वाला था कि भगवान को क्या मंज़ूर था कि उधर अस्पताल से एंबुलेंस गाँव की ओर चली और इधर यह बहू तैयार होने अपने कमरे में जा घुसी। हमने तो बाहर से ही बच्चे के चीखने की आवाज़ सुनी। इस बच्चे ने न दाई की मदद ली, न नर्स की और जैसे स्वयं यह अवतारी पुरुष की तरह धरती पर आ गया।”

ज्ञानेन्द्र ने अब बोलना शुरू किया -- “जब से यह आया है हम बूढ़ों को सहारा मिल गया है। हम सब इसके इर्द-गिर्द जमा हो जाते हैं।”

“न सिर्फ़ हम बल्कि पक्षी... पालतू पशु और जैसे सारी चीज़ों” किसी ने अपनी तरफ़ से जोड़ा।

वर्षों लोग अब जैसे फिर से जी गये हैं।” ज्ञानेन्द्र कह ही रहा था तभी अपर के खेतों से एक वृद्ध दम्पति धीरे-धीरे आते दिखाई दिए। सब एकदम खामोश हो गये बल्कि उठकर उनकी अगवानी के लिए आगे बढ़ गए।

“मनोरम पंडित आ रहे हैं ?” ज्ञानेन्द्र ने धीरे से कहा -- “वे गाँव के सबसे बड़े हैं। बस दो-तीन बरस में शताब्दी पूरी कर लेंगे।” और कहते-कहते मुझसे भी आगे जा उन्हें खेतों की पगडंडी से नीचे उतरने में मदद करने लगा।

तमाम लोग उनके पाँव छूने आगे बढ़े।

मुझे भी याद आया। हम सब लोग शामों को उनके घर बैठ कर खूब गप्पवाज़ी करते थे।

मैंने जब उनके पाँव छुए तो पाया कि उन्हें बहुत कम दिखाई देता है।

“पहचाना,” मैंने उनसे पूछा।

“अरे तू... शास्त्री जी के छोटे भतीजे...” यह संबोधन वे विनोदपूर्वक करते थे। यह ज़ाहिर करते हुए कि जैसे वे वेश लोगों को न जानते हों।

भाभी यानी उनकी पत्नी को प्रणाम करने के लिए मैं जैसे ही झुका -- वे बोली -- “अकेला ही आया है ?”

मनोरम पंडित विनोदी स्वभाव के थे, बोले -- “अरे अपनी सारी घरवालियों को ले आता तो यहाँ रहने की जगह मिलती। क्यों भाई ?” उन्हें वर्षों पहले का अपना वाक्य याद था। बोले, “अरे इसकी जन्मपत्री में लिखा था यह मलेच्छ धर्म स्वीकार कर लेगा। और कोठार (काष्ठ का विराट संदूक) भर कोठारियों ले आयेगा।” इस विनोद से वे एक साथ तीन-चार लोगों पर प्रहार करते थे। उनकी पत्नी यानी हमारी भाभी भी कोठारी जाति की थीं और उनके दूसरे समकालीनों के विवाह भी संयोगवश कोठारियों से ही हुए थे। सौ की उम्र पर पहुँचने वाले मनोरम पंडित की बातों से सब लोग हँसने लगे।

सब-के-सब उस खलिहान में व्यवस्थित हो गये तो उनमें थोड़े ही छोटे आनन्द पंडित जो सबसे नीचे बने घर में रहते थे, ऊपर आ गये। वे मनोरम पंडित के बाद गाँव के वरिष्ठ जनों में गिने जाते थे। फ़ौज से सेवा मुक्त हुए शायद उन्हें पचास बरस हो गये थे। मनोरम पंडित उन्हें भी नहीं बख़्शते थे। “आ भाई आनन्द... तू तो सौ बरस पेंशन लेगा। कब रिटायर हुआ था ?”

“अब की बार तो आप लिख ही लो” आनन्द पंडित बोले। वे मनोरम पंडित के जोड़ीदार ही थे। वैसे ही विनोद करते और हँसते रहते थे। “मेरी रिटायरमेंट की तारीख़ आपके पूछने से कई लोगों को कंठाग्र याद हो गई है।” सबके सब उस नवजात को देखने के लिए इकट्ठे हुए थे और विचित्र बात थी कि आसपास के सभी घरों से अब कुछ-न-कुछ आ रहा था। ऐसे विचित्र जमावड़े देखकर कोई भी हैरान हो सकता था।

“मैं जब गांगी गया था तो वहाँ तीस साल बाद पूरे गाँव में कोई नया शिशु आया था...” मनोरम पंडित ने अपनी बहुत ही धीमी पर सधी आवाज़ में कहना शुरू किया।

वर्षों बाद आने पर गाँव का वह दृश्य... कुछ-कुछ अविश्वसनीय-सा लग रहा था।

कुछ देर रुक कर और बच्चे को दुलार कर मनोरम पंडित और बड़ी भाभी धीरे-धीरे फिर अपने मुहल्ले की ओर लौटने लगे। तब तक खलिहान में काफ़ी लोग इकट्ठा हो चुके थे। और जिस भीड़ की कामना थी जैसे उतने ही लोगों की उपस्थिति से वह एक हज़ूम-सा महसूस होने लगा था। परंतु वह पारंपरिक भीड़ नहीं थी। स्मृति में बसी हुई भीड़ की तरह। लोगों के जाने के बाद फिर सन्नाटा-सा पसर गया था। इसे संयोग ही कहेंगे कि तभी किसी दूसरे रास्ते से घर खुलने की खबर आ गई थी।

घर की ओर बढ़ने से पहले सभी लोगों से मिलने की रिवायत शहरी आचरण से भिन्न थी और उसे जल्दी से निपटाने की कला जानने वाले ज़्यादा देर खड़े नहीं रहते। मैंने भी वही तरीक़ा आजमाई और सबसे बोला -- “बस थोड़ी देर में आ रहा हूँ।” मेरा यह कहना था कि हरेक की जुबान पर था -- “कहाँ ?” क्योंकि मैं भूल गया था कि गाँव में बैठने की दो ही सामुदायिक जगहें थीं। और वहीं लोग मिला करते थे।

आख़िर में किसी के कहने पर हूँ भर दी क्योंकि उसने दूसरे मुहल्ले की चैपाल पर आने के लिए सवाल उछाला था क्या ही अच्छा हुआ कि अब संध्या सारे लोगों के साथ वहीं बीतेगी। पहली चैपाल का अस्तित्व खत्म हो गया था। लोग जो कम हो गये थे वहाँ चैपाल के आस-पास झाड़-झंखाड़ उग आये थे। डरावने से।

थोड़ी ही दूर का मामला था। उतनी दूर चलने के उस थोड़े से वक्त के भीतर सहसा मुझे अहसास हुआ जैसे कि मैं सब जान गया। वह एक ख़ौफ़नाक अहसास था। डरावना। याद दिलाऊँ कि वर्षों पहले हम जब बहुत से हमउम्री गाँव के आस-पास के इलाकों में कभी सामूहिक रूप से और कभी अकेले ही, जंगल-झाड़ियों या उफनी हुई बरसाती नद-नालों की ओर जाते तो कभी डर नहीं लगता। हमेशा याद आता अरे यह रास्ता, यह टूटा हुआ घराटा, ये लम्बे-लम्बे पेड़ ये तो साथ हैं। डर कभी-कभी तब लगता जब हम लोग साथ-साथ होते और रास्ते में साँप दिखाई देते या दूर से बाघ की आवाज़ सुनाई देती। पर वह डर पल भर में ग़ायब हो जाता क्योंकि न तो साँप रास्ते में ज़्यादा देर खड़ा या लेटा या सरकता रहता और न बाघ कुत्तों की तरह लगातार गुराता या शोर मचाता। ये कई किस्म के डर। अपने धुर बचपन में घुसता हूँ तो अपने बचकाने डरों पर हँसी आती है। वे डर सारे डर विचित्र थे। मेरे एक चचेरे भाई तो रात और दिन भूतों से डरे रहते थे। वे अब इस दुनिया में नहीं रहे। उनके भूतों के डर भी अतीत बन गये। मैं पहला आदमी था जो उनके डर दूर करने का डाँक्टर बना था। कहीं से मुझे एक तंत्र-मंत्र की किताब मिल गई थी। उसे बाँच कर हर तरह के भूतों के प्रभाव को निश्फल करने की विधियाँ खोजकर

मैं गाँव की अपनी टोली का भूत डाँक्टर बन आया था। उन भूतों की गाथाएँ फिर कभी। इस वक़्त जरा-सा दूर चल कर जिस ख़ौफ़ से मैं ग्रस्त था उसने मेरी सारी चेतना को उद्वेलित कर रखा किया हुआ था।

वह ख़ौफ़ था बसी हुई जगहों में उजाड़पने की खेती का पनपना और वह भी ऐसी फसल का जिसका बीज किसी ने देखा ही नहीं। उजाड़पन धीरे से पसर रहा था। मन थोड़ा कसैला हो आया। छुट्टियाँ बिताने, अपनों से मिलने खुद को तनाव मुक्त करने की जगह यह अहसास कि कोई चीज़ बस अब उठाने ही वाली है। अचानक महसूस करने लगा कि उजाड़ के बीज सचमुच होते हैं। उसे किसी का सपना याद आया। सपने लेने वाले को वह एकदम भूल गया। सपना क्या था डर के सिक्के का एक पहलू था। उसने सपने में देखा था कि पत्थर लुढ़कते हुए आर्येंगे। आर्येंगे और सारी नदियों के किनारों को उजाड़ कर देंगे। बरसात में पत्थरों के ऊपर पानी तेज़ी से बहेगा और तटबंध तोड़ते हुए आने वाले कल के लिए उजाड़पन बढ़ा देगा। सिक्के का दूसरा पहलू भी था। उसे पहला झटका ही तब लगा जब वह गाँव की सरहद पर बनी एक दुकान में घुसा। उसने वे तमाम चीज़ें वहाँ देखीं जो उसने अमेरिका में भी देखी थी। नामी-गिरामी कंपनियों के उत्पाद्य थे वे। वैसे ही। चने, मुरमुरे, आलू के चिप्सा और वे सब अमेरिकी कंपनियाँ ही थीं जो गाँव में भी घुस गई थीं। पचास साल बाद -- आज्ञादी के पचास साल बाद उसने कोई ऐसी चीज़ दूसरे देशों में नहीं देखी थी जो भारत में बनी हो।...

पचास साल !

उसे पचास साल के प्रायश्चित को झेलना था। उस पल जब वह अपने घर की देहरी पर था -- खुद से लड़ रहा था। उसके भीतर से कोई कह रहा था -- अरे बिना दुकान खोले हम भी तो दुनिया में घुसे हुए हैं।

उसे गेरवा वस्त्रधारी बाबा लोगों के चित्र दिखाई दिए। एक प्रख्यात जैन मुनि की याद आई जो एक सफ़ेद पट्टी से मुँह ढके रहते हैं। वह वारदात याद आई जब हमारे पुराने आकाओं के मुल्क में उनकी गाड़ियों के आगे-पीछे पुलिस की चमचमाती बत्ती लगी गाड़ियों ने घेरा बनाया। पुलिस को शक हुआ यह कोई नया आतंकवादी संगठन है जो सफ़ेद लिवास में, सफ़ेद पट्टी मुँह पर बाँधे अपनी पहचान छिपा रहा है।

ज़रूर... ज़रूर वे कोई वारदात करेंगे। जिन लोगों ने उस घाम के टेलीविज़न खोले होंगे। उन्हें ख़बरिया चैनलों से ख़बर मिली होगी कि भारतीय संत-महात्माओं के बारे में पुलिस और स्काटलैण्ड यार्ड की जानकारी कितनी मामूली है। ठीक भारतीय पुलिसिये की तरह ठस्स और अपढ़-सी आकृति। वह तो भला हो अठारह साल के डेविड का - - जिसने तुरंत अपनी टेबलेट से जानकारी निकाली कि यह अहिंसक

साधुओं का एक टोला है जो भारतीय है और किसी भारतीय 'जैन' धर्म का प्रचार करता है।

अठारह साल के बच्चे को सूचना फैलाने का सुख मिला और वह रातों-रात खबरिया चैनलों का हीरो बन गया। सुबह के अखबारों में दो ही तस्वीरें थीं...

जैन मुनि की मुँह ठाँपी तस्वीर और ठहाका लगाते डेविड की तस्वीर जो मैकडानलड के आलू खा रहा था -- फ्रेंच फ्राई। खबरिया चैनल दुनिया भर में सुबह से उद्योग जगत का विज्ञापन करने में व्यस्त रहते हैं। उन्हें नहीं मालूम कि वे कार्पोरेट घरानों के अदृश्य बंधुआ मजदूर हैं।

उस एक पल वह थोड़ा खुश हुआ। आखिर जैन मुनि का भी तो विज्ञापन हुआ। जैन मुनि का मतलब था भारत का जिक्र आना। पञ्चमी अखबारों में भारत का जिक्र एक आलोचनात्मक वस्तु के रूप में आता है -- दहेज हत्यारों के रूप में, शौच के लिए जाती हरियाणा की स्त्रियों के रूप में बलात्कारियों के रूप में या गली मोहल्ले में बढ़ती जाती आवादी के रूप में...। यह न भूलना शायद काफ़ी मुश्किल है कि गहमा-गहमी की जो स्मृतियों बसी हुई थीं -- उनका अब कोई अवशेष ऐसा नहीं था कि हम उसे इतिहास के किसी ऐसे साक्ष्य के रूप में देख सकें कि हाँ पहले यह जगह किसी चीज़ से भरी हुई थी जो अब उजाड़, निर्जन वन के रूप में बची रह गई हो -- घर पहुँचते ही वह अकेलापन दालान, छज्जों, खिड़कियों पर भी टँगा दिखाई देने लगा था। कुछ ही बरस पहले यहाँ कितने ही लोग थे। मेरे पिता, उनक दो भाई। एक बड़े, जिनकी आवाज़ घोर गर्जना करनेवाली आवाज़ों में गिनी जाती थी। मेरे चाचा जो बहुत शालीन थे और सुसंस्कृत भाषा में प्रवीण थे। मेरे पिता जिनकी वाणी में विनोदप्रियता थी। और पत्नियों यानी मेरी दो ताइयाँ। बड़ी ताई सचमुच में बड़ी थी। उन्हें हम बड़ी ही कहते थे। यह सम्बोधन उत्तरकाशी इलाके के पिछली ढलानों की भाशा में बड़ी ताई के लिए ही प्रयुक्त होता था। वे हर अर्थ में बड़ी थी। अपने डील-डौल में। अपने व्यवहार में। एक बड़प्पन उनमें यह भी था कि वे सब बच्चों को समान रूप से प्यार करती थी। उनके प्यार के प्रदर्शन में प्रमुख चीज़ थी बच्चों को कुछ-न-कुछ खिलाते रहना। छोटी ताई का विवाह बड़ी ताई की सलाह पर हमारे ताऊ से हुआ था। चार बेटियों को जन्म देने के बाद भी वे पुत्ररत्न नहीं दे पाई थी सो उन्होंने ताऊ जी को उकसाया कि नई शादी कर लो। यह कठिन काम था। पर इसे आसान बड़ी ताई ने ही बनाया था। उन्हें कहाँ पता था कि वे एक नये व्यक्ति के रूप में अपने एक शत्रु का निर्माण कर रही थीं। जिसे सौतिया डाह कहते हैं, उसी का रोपण उस वक्त हुआ था। जब छोटी ताई का पहला लड़का जन्म ले रहा था उसी दौर में बड़ी ताई की दो बड़ी बेटियों के लड़के भी जन्म ले रहे थे। वे हमसे एक-एक महीने बड़े होंगे। हम उस घर में एक-दो महीने के फ़ासले पर ही पाँच लड़के पैदा हो

गये थे। यह भी प्रकृति का विचित्र कमाल था कि चाची, छोटी ताई, मेरी माँ और मेरी बड़ी ताई की बेटियों के प्रसव उसी मकान में हुए थे। मैं कल्पना करता हूँ कि आधी रात या भरी दुपहरी में गाँव को खबर करने के इरादे से पाँच बार थालियाँ बजी होंगीं। मैं कल्पना करता हूँ कि वहाँ दाइयों की फ़ौज आई होगी क्योंकि जब से ये पाँच जन यहाँ पैदा हुए किसी और घर के शिशु ने इनका रुदन सुनकर अपना रोना बंद कर दिया होगा।

उन पाँच नवजातों के लिए गाय का दूध, गाय का घी, सूजी और उड़द की दाल की खपत कितनी बढ़ गई होगी कि खण्डकरी गाँव की दुकान या चम्पा के भाई सूरत सिंह की दुकान से माल-असबाब की आमद भी भीड़ को ही न्यौता देती होगी। खलिहान के दिन (कालीन) पर हर वक्त कोई बैठा हुक्का गुड़गुडाता दिखाई देता था।

तब की तो याद नहीं पर छह-सात बरस बाद की बातें याद हैं। वे ही तो स्मृति की बेजोड़ चीज़ें हैं। और वहाँ से हुए अपनाये की बेशकीमती यादें अब तब न जाने कितने एकान्तों में झिलमिलाती रहती हैं।

उन्हीं के बीच बालू की तरह पसर आता है वह उजाड़पन जिसका अहसास अभी-अभी अपनी गहराई की ओर धकेल रहा है।

तब और अब। ऐसी मारामारी नहीं थी। न सही, बहुत चीज़ें नहीं ही थीं। परंतु उनके अभाव ने कभी चिन्ताजनक हालत पर नहीं छोड़ा। बल्कि वैकल्पिक चीज़ों के प्रयोगों ने ज़्यादा अपनी ओर खींचा --

वही घर था। वर्षों पहले भरा-पूरा और अब अकेले एकान्त में खड़ा मानो इंतज़ार में हो कि लोग आएँ और खलिहान भर दें। आड़ू और खुबानी के पेड़ों पर चढ़ें, उन्हें हिलाएँ फल नीचे गिरायें -- अपने केशोर्य के दिनों की वारदातें थीं जो टोलियों के नाम से चारों तरफ़ फैली हुई थीं। ऊपर पहाड़ों की चोटियों पर खड़े पेड़ -- कैसे ताकते थे खुले आसमान को और हमें जैसे कहते हों आओ भाई हमें हिलाओं टहनियाँ तोड़ो। आग जलाओ छेंतीमेला खाओ। यह छेंतीमेला चिलगोज़ों की जाति भाई है। बहुत स्वादिष्ट। अतीत की चीज़ें खुल रही थीं। वे खुल रही थीं अतीत की खिड़कियों से अतीत की ओर...। घर में कौन थे हमलोग ? एक मेरा भाई अनुपस्थित। उसके दो बेटे और उसकी दो बेटियाँ अनुपस्थित। कोई नहीं था वहाँ। सब अनुपस्थित थे। फिर भी वह घर था। पर पहले जैसा भरा-पूरा नहीं। सन्नाटे-भरा उजाड़। ओह ! उजाड़पन के अदृष्य बीज हवा में फैल रहे थे। कुछ ही बरस पहले व्यंग्य में लताड़ा था उसे -- अब इक्कीसवीं शताब्दी की ओर मुँह किए तूने चार पैदा कर लिए। और वह बेशरमा। मुस्करा रहा था। चार कितने ज़्यादा लगे थे तब। और अब वे चारों दूसरे शहरों में अकेले-अकेले पढ़ रहे हैं। बस घर में एक उसकी पत्नी। मेरे एक पुराने सहपाठी की बेटा। वह भी उसी गाँव की जहाँ से गाँव

घर की दर्जनों भाभियाँ हैं। वहीं से मेरी माँ। मैं मज़ाक़ में बहुगुणा परिवारों से कहता हूँ तुम्हारी जात न होती तो हमें जननियाँ कहाँ से मिलतीं? कोई शुद्ध कर देता। बेटा बोल जनानियाँ यानी स्त्रियाँ कहाँ से मिलतीं -- यह कहा कर! और कामुकता में कहता, बुधाणियों से सुन्दर कौन है?

उसी घर में मैं वर्षों बाद आया था। जब सड़क नहीं बनी थी बाहर के लोग गाँव को मौत का कुँआ कहते थे। हम आते तो कस्बे को ही सलाम कर चले जाते। सड़क बन भी गई तो जब टूटती तो गाँव घर आने का रास्ता बंद हो जाता। अब सड़क बनने से घर आने के लिए एक छोटा-सा खेत पार करना होता है। मेरे बचपन में उस खेत में परियों की सुरंग होती थी। और उसी खेत से भूतों के डेरे दिखाई देते थे। बहुतेरे लोग दिन में भी उस ओर नहीं देखते थे। जाने कब भूत पीछे लग जायें?

अपने थैले में जो चीज़ें मैं घर के लिए लाया था वे मैंने अपने भाई की पत्नी को थमाई और अपनी जल्दबाजी प्रदर्शित करते बोला -- “अब चाय न बनाना,” मैंने कहा, “और मैं थोड़ी देर के लिए दूसरे मुहल्ले की ओर चला जाऊँगा।” एक बड़े घर में अकेले बैठे रहना मुझे सुहा नहीं रहा था।

भाई की पत्नी एक साथ कई काम कर रही थी। उसने ऊपर के कमरे के बिछौने ठीक कर दिए और बहुत-सी ज़रूरत की चीज़ें दूसरे गाँव से लाकर व्यवस्थित कर दी थीं। वे लोग भी कभी-कभी पर नियमित गाँव आने वालों में से थे।

लपक कर मैं दूसरे मुहल्ले की ओर बढ़ा। वहाँ चैपाल पर एक सज्जन हुक्का गुडगुडा रहे थे। मुझे आते देख वे ऐसे गदगद हुए कि हुक्का उठाये ही मेरी तरफ़ लपके -- “वाह -- भई वाह। आज तो सचमुच देवी दखिनी हो गई।” मेरे कानों में ढोल नगाड़े बजने लगे। मुझे नवरात्र के वे दिन याद आने लगे जब बिजली नहीं थी गाँवों में पर कहीं भी अंधेरा दिखाई नहीं देता है। यह अलग बात है कि आज बिजली से अंधेरा दिखाई देता है। तब छोटे-छोटे दिए, छोटी लालटेन, छोटा-सा पेट्रोलैक्स -- क्या ग़ज़ब का उजाला बिखेरता था कि लगता था रोशनी ने अंधेरे को धकिया दिया हो।

मेरे वैज्ञानिक मस्तिष्क ने मुझे कोसा। मैं किस वक्रत की तारीफ़ कर रहा हूँ। अरे तब हम गुलाम थे... भीषण अभाव में, सपनों के सच होने की इंतज़ार में थे।

धत्तेरे की!

गुलाम होते हुए भी थे। असहाय थे। पर थे। जीवित थे। और जीवन से कुछ ऐसी निराशा नहीं थी। बल्कि बदलने, सब कुछ बदलने के

बुलन्द हौसले थे। यहाँ तक कि गुलामी को बदलने के भी हौसले थे। अजीब बात थी कि उस वक्रत की अपनी भूख रोटी लगती थी। दूसरों के लिए कुछ भी करने की हिम्मत थी। उसमें कुछ था। यानी शब्द खोजूँ तो याद आता है कि हॉं नीयत साफ़ थी।

हुआ यह कि मेरे इलाक़े के सबसे ग़रीब आदमी ने तय कर लिया था कि वह भी कुछ-न-कुछ आज़ादी के यज्ञ में फूँकेगा।

जैसे ही मेरे दिमाग़ में यह बात कौंधी मैंने सोचा हुक्का गुडगुडाते सज्जन को सुनाऊँगा। मैंने औपचारिक अभिवादन किया तो बोले -- “आपको पता है आप मेरे चाचा है।”

“चाचा”, मैं चैंक कर बोला।

“हॉं -- मुझे रिटायर हुए भी बीसेक साल हो गये। मैं तो इधर रहता था पछवा दून में। अब सब लोग यहाँ से धीरे-धीरे गाँव छोड़ कर चले गये न?... एक मैं ही हूँ जो बीस साल, रिटायरमेंट के बाद भी गाँव आया हूँ।... हुआ यह कि मुझे गाँव की याद सताने लगी। मैंने पता किया तो मालूम हुआ हमारा घर अभी नीचे बाँध में काम करने वालों की वजह से इस्तेमाल में है। और जब घर इस्तेमाल में हो तो समझो वह कभी भी खण्डहर नहीं बन सकता।”

“खण्डहर” -- मैंने शब्द दुहराया। इसी शब्द से तो छिप रहा था मैं। और अपने आप डर गया। कुछ ही देर पहले तो मैंने खण्डहर के बोध को महसूस किया था।

वह सज्जन मुझे चुप देख बोले -- “आप बीच वाले भाई यानी हमारे बीच वाले दादा जी के बेटे हैं न? आपके बारे में सुना था मैंने कि आप कभी-कभी गाँव आते रहते हैं।”

“मुझे यहाँ आना अच्छा लगता है। बस इस बार कुछ बरस बाद आया हूँ। बीच में कभी सड़क टूटने से कस्बे तक आया और कभी मौसम की मार से कस्बे में ही रुके रहे।”

“तभी तो मैंने कहा न कि मुझे भी गाँव की याद के सताने ने खींच लिया। यहाँ कितना खुलापन है। जैसे पूरा-का-पूरा आसमान अपना हो।”

“मुझे एक पुरानी बात याद आ रही है। एक ऐसे आदमी की जिसे मैंने देखा भी था। आज़ादी की लड़ाई के दौरान उसने फैसला किया था कि वह भरपूर योगदान देगा।...”

“तो... अरे आप भी जानते हैं नन्दूमल जी के बारे में।”

“वे सबसे ग़रीब आदमी थे इलाक़े के।... उन्होंने अपना सब कुछ गिरवी रख कर चन्दा दिया था।”

“न सिर्फ़ इतना... बल्कि उन्होंने अपना बाक़ी जीवन भी इसी तरह के कामों के लिए समर्पित कर दिया था। वर्षों पहले जब मैंने उन्हें देखा था तो वे...।” अब जैसे मैं कुछ बता नहीं पा रहा था। बल्कि महसूस हुआ कि उनके चेहरे की याद करते ही कोई पुरानी-सी संग्रहालय की चीज़ सामने पड़ गई हों उस वक़्त... जब मुझे मालूम था कि मैं गाँव की चैपाल में वक़्त बिताने के लिए, लोगों से मिलने के लिए आया हुआ था। तब मुझे याद आ रहा था एक बियावान-सा इलाक़ा जहाँ घर तो है लेकिन घर में रहने वाले लोग नहीं।

“हाँ -- तो,” उन्होंने कहा, “आपको पता है कि नन्दमल जी ने अपने जीते- जी अपना श्राद्ध भी करवा डाला था। क्या पता कल कोई वंशज रहे न रहे। हम लोगों बुतेरा (बहुतेरा) रोका उन्हें। पर वे माने नहीं और उस वक़्त भी उनकी उम्र ज़्यादा नहीं हुई थी।”

चैपाल सुनी थी। अभी लोग आने वाले थे। अनुभव यही बताता है कि चाहे कुछ भी हो दुपहर में तो ज़्यादा लोग आते हैं। उस सूनेपन में चैपाल के चारों तरफ़ के पेड़ों पर नज़र डालें तो वे जैसे सदियों के गवाह हैं। उन गवाहों से पूछा जा सकता है कि अतीत में घटी चहल-पहल के दृष्यों में क्या था जो पूरे वातावरण को, समूचे सन्नाटे को सचल कर देता था ? आप ग़ौर से पेड़ों को देखें तो महसूस होगा जैसे वे किसी संवाद में निरत हों। अनन्त आकाश से, बादलों से, पर्वतों की चोटियों से...।

आख़िर हम जब मनुष्यों को संवादरत देखते हैं तो क्या-क्या चीज़ें याद रखते हैं ? खासकर दो अपरिचितों के बीच हो रही बातचीत में हम उनकी नित-नित बदलती मुख मुद्राओं पर ग़ौर करते हैं।

“देखा आपने,” वे सज्जन बोले, “अभी चैपाल में लोग घिर आयेंगे तो पेड़ चुपचाप, बिना हिले-डुले जैसे हम लोगों की बातें सुनने को ठिठक से जायेंगे।”

मुझे जानकर हैरानी हुई कि कैसे एक ही वक़्त में दो लोग एक जैसी मनःस्थिति में आ जाते हैं। हम दोनों एक जैसी बातें सोच रहे थे।

तभी पगडँडी से गाँव की औरतों का एक छोटा-सा झुण्ड लपक कर जाते हुए दिखाई दिया। पीछे से कोई आवाज़ दे रहा था -- “नीरु की माँ, टेमरु न भूलना...”

टेमरु... जैसे हवा में कोई अनुगूँज अपनी ध्वनि दुहरा रही हो।

“टेमरु क्यों मँगा रहे होंगे भाई ?” उन्होंने थोड़ी चिन्ता व्यक्त करते हुए कहा।

“शायद दाँत साफ़ करने के लिए ज़रूरत पड़ती होगी।”

“नहीं भाई। अब घर-घर में ट्यूब वाला सामान मिल जाता है न ?”

“फिर भी इसका पिपरमेंटी स्वाद खींच लेता है न अपनी ओर,” मैंने कहा।

“सोचना पड़ेगा कि क्या वजह होगी ?”

“इसमें सोचने की क्या बात है ?”

मेरे प्रश्न पर वे हँस दिए। बोले -- “वजहें कई हैं। उनकी परीक्षा करनी पड़ेगी।”

मेरे लिए यह अबूझ-सा हो रहा था। मैं समझ ही नहीं पा रहा था कि उनका इस मामले को रहस्यपूर्ण बनाने के पीछे इरादा क्या था ?

दूर मुहल्ले से कोई बच्चा दौड़ता हुआ पगडँडी पर दीख रहा था। और उसके पीछे दौड़ रहे थे दो कुत्ते। कुत्ते बच्चे से आगे निकल कर चैपाल के करीब पहुँचकर, ठिठककर खड़े हो गये थे।

बच्चे हाँफ रहे थे।

कुत्ते चुपचाप किसी बाड़ से टिक कर बिना कोई जल्दबाज़ी दिखाते हुए षांत थे।

वह कुत्ता जो कुछ देर पहले बच्चे के साथ एक सन्नद्ध मुद्रा में था। लगता था जैसे उन कुत्तों में एक वह भी था। यह अनुमान ग़लत नहीं था। वह था। बाक़ी कुत्तों के साथ दौड़ना स्वाभाविक था। स्वाभाविक था उस उजाड़ बनते क्षेत्र में साथ-साथ रहना... मैं यही सोच रहा था।

मेरे मन में अब अनेक प्रश्न तैरने लग गये थे। उस वक़्त की तात्कालिकता का भी एक कारण जुड़ सकता है। उन्होंने जो कुछ कहा था कि “वजहें कई हैं। उनकी परीक्षा करनी पड़ेगी।” वे अपना हुक्का गुड़गुड़ाते रहे। फिर हुक्के की चिलम ठीक करते बोले -- “देखो तो चाचा जी ! मैं बरसों बाद हुक्का गुड़गुड़ा रहा हूँ पर लगता है जैसे हुक्का मुझे चख रहा हो। कि मेरे ओंठ अब बुढ़ा गये हैं। हाथ की पकड़ ढीली पड़ गई। मेरी पत्नी कहने लगी कि आदमी का जिस्म भी खण्डहर होने लगता है।” वे कहते-कहते हँसने लगे।

चैपाल के नीचे एक घर बन रहा था। मैं उधर देखने लगा तो उन्होंने अपने बोलने में सूचना जोड़ दी -- पहले सयाणा जी यानी मुखिया जी के घर थे यहाँ। उनके बच्चे पंजाब की ओर चले गये तो घर टूटने लगे तो एक बेटे ने यहाँ आकर उन्हें तोड़ दिया और अब सीमेंट की छतों वाला बड़ा घर बना रहा है...” मैंने स्वीकृति में मुंडी हिलाई।

“मजबूत घर बनेगा”, मैं उनकी बातों में शामिल होने के इरादे से बोला।



“न... न... भाई पछवा दून में जहाँ में रहता हूँ वहाँ सीमेंटी घर भी खण्डहर बन गये हैं।”

“अच्छा”, मैंने आश्चर्य जताया। “सो कैसे” फिर जोड़ा। “मुझे लगता था कि सीमेंट का घर सौ साल तो जिन्दा रह जाता होगा।”

“सौ साल सिर्फ़ आदमी जिन्दा रहता है। मकान को इस्तेमाल न करो तो दो बारिषों में उस पर खण्डहर की छाया उभर आती है।”

तभी पैदल चलने वालों तीन आदमी चैपाल की तरफ़ आते दिखाई दिए।

परिचित न होने पर भी उन्होंने परिचितों-सा व्यवहार किया और हमें अभिवादन कर वे हुक्के की इंतज़ार करने लगे। दो आदमी तो चैपाल की ऊँची जगह पर बैठ गये किंतु एक आदमी बाहर की तरफ़ बैठ गया। मैंने उसे करीब आने का इशारा किया पर उसने इनकार में अपना सिर हिला दिया।

साफ़ था कि वह समाज के भेद का हिस्सा था और अपनी स्थिति से समझौता कर वह ऐसे भेद-भाव समाज में सभी छूआछूत के बीच रहता था।

अचानक कुछ चीज़ जैसे इस आचरण के बीच खुलती जा रही थी। खण्डहर बनते अतीत का वह अंतिम चरण जैसा था।

हुक्के की बारी के अपने कुछ नियम थे। पहले चैपाल में बैठे सीनियर लोगों को हुक्का गुड़गुड़ाने का मौक़ा दिया जाता है। फिर दूसरे लोग बारी लेते हैं।

थोड़ी देर बाद चैपाल बाहर के पास हुक्का आया तो उसने सिर्फ़ चिलम उठाई और हाथों की हथेलियों के बीच फँसा कर चिलम पीने लगा।

उसने एक से स्वर में धुआँ बाहर फेंकना शुरू किया तो ठेर सारा धुआँ उसके इर्द-गिर्द फैल गया।

मेरे इलावा वे सभी लोग एक-दूसरे से परिचित थे। इसलिए हुक्के के इस्तेमाल में पारंगत थे। वे एक-दूसरे को देख कर कभी-कभार हँस भी देते थे। बातें न करने के कारणों पर मैं सोचने के लिए विवश ही था कि तभी मैंने देखा कुछेक लोग तेज़ी से लपकते उस दिशा में आ रहे हैं।

“लो चाचा जी...” वह आदमी बोला, “स्कूल के मास्टर लोग चले आ रहे हैं।”

वे तीनों जन अपनी-अपनी जगहों पर बैठे सिर्फ़ हुक्के के साथ भागीदारी कर रहे थे। मास्टर टोले को दख वे तीनों खड़े हो गये।

“अरे... अरे, एक मास्टर लपक कर आए...” उम्मेद सिंह... तुम...।” असल में उम्मेद सिंह भी दूसरे गाँव का था और मास्टर जी भी वहीं से तबादले के बाद इस गाँव आए थे। पुरानी पहचान ने एक अतिरिक्त आकर्षण पैदा कर दिया था।

“उम्मेद सिंह हूँ सर मैं।”

“हाँ - हाँ मैं पहचान रहा हूँ।” मास्टर जी ने उसके पास आकर उसके कंधे थपथपाए। “और यह कौन है ?” मास्टर जी ने दूर बैठे युवक की ओर इशारा किया।

“यह भी हमारे साथ पढ़ता था। गरबू।”

“ओह गरब सिंह...” मास्टर ने इतना ही कहा था कि उम्मेद सिंह ने बीच में टोक दिया -- “न... न... यह गरब दास है।”

नाम सुनते ही हुक्के को सुलगाते वहीं के ग्रामवासी बोले -- “बहुत अच्छा लड़का है जी ! अपनी मर्यादा पहचानता है।”

मास्टर टोले के लोगों ने बातचीत अनसुनी कर अपने लिए जगह टटोलनी शुरू कर दी। वे कुर्सियाँ खोज रहे थे। मास्टर लोग थे उन्हें गाँव वाले विनोद और तिरस्कार में कुर्सीतोड़ मानुष कहते थे। जिसका लघु रूप था कुतो मानुष। वह याद आया तो उससे जुड़ी बहसों भी याद आने लगीं।

अब चैपाल भरने का समय हो गया था। उतरती दोपहरी में वहाँ लोग जमने शुरू हो जाते।

सबसे बड़े पंडित मनोरम पाण्डे भी धीरे-धीरे अपनी छड़ी के सहारे चलते वहाँ पहुँच गये थे। ग्राम प्रधान का कोई सेवक खेत के पिछवाड़े टिकी, एक-दूसरे के ऊपर करीने से रखी कुर्सियों का ढेर उठा लाया था।

सबसे पहले मास्टर लोग उस ओर लपके थे। कुर्सी बिछने का क्रम कुछ उलट- सा गया था। एक खेप चैपाल के आधे घेरे पर कुर्सियाँ बिछा कर बैठ गई थी और जहाँ कुर्सियों का ढेर था वहीं पर मौजूद था। रिवाज़ था कि अपनी कुर्सी उठाओ और बैठ जाओ।

मनोरम पाण्डेय जैसे ही पास पहुँचे। सब उनके स्वागत में उठ खड़े हुए।

“आइए पाण्डेय जी,” स्कूल के बड़े मास्टर साहब सबसे पहले बोले।

“आज आपसे ज़रूरी बात भी करनी है,” दूसरे मास्टर ने अपनी बात सामने रखने के इरादे से कहा, “न जाने क्यों स्कूल में विद्यार्थियों की कमी हो रही है?”

मनोरम पाण्डे हँसने लगे। और हँसते ही चले गये। हँसते-हँसते बोले -- “भाई मेरा उत्तर हँसी में घुल-मिल गया है। अब आप जैसे विद्वान ही उसे खोज सकते हैं।”

कहते-कहते वह एक खाली कुर्सी पर बैठ गये। फिर बोले -- “देश में जनसंख्या बढ़ रही है पर अजीब बात है कि गाँव में बच्चे कम हो रहे हैं खासकर स्कूल में पढ़ने वाले। अरे भाई पहली बात है कि अब कुछ लोग गाँव छोड़ ही रहे हैं।”

“यह गंभीर मामला है,” एक मास्टर जो चुपचाप बैठे थे, बोल उठे।

“एकदम गंभीर” मनोरम पाण्डे बोले, “पर यह ज़रूर सोचें कि आखिर यह हो क्यों रहा है? अब अशक्त बूढ़े, नवजात बच्चे और औरतें हैं... भला क्यों?” मनोरम पाण्डे ने सवाल उछाला।

“शायद अब लोग गाँव में नहीं रहना चाहते,” वही मास्टर बोले।

“लोगों को शहर ज़्यादा पसंद आने लगे हैं” -- हुक्का गुड़गुडाते पंडित महाशय ने अपनी भागीदारी दर्ज़ करने के लिहाज़ से कहा।

“शायद कोई दूसरी वजह हो,” मनोरम पाण्डे ने हस्तक्षेप किया।

“आप ठीक कहते हैं” मास्टर बोला।

“क्यों,” किसी ने सवाल दागा।

“अरे भई गाँव में रखा क्या है?”

“क्यों गाँव तो है न?”

पर बाक़ी क्या है कि आदमी उससे चिपका रहे।”

“साब, सच कहूँ,” बैठे हुए एक आदमी ने बोलना शुरू किया तो सब उसकी ओर देखने लगे।

“कहो, कहो”, मनोरम पाण्डे ने जैसे उसे उकसाने के लिए कहना आरंभ किया -- “कुछ छिपाओ नहीं।”

“बस, वही सच तो कहना चाहता हूँ”, वह थोड़ी देर के लिए चुपा गया तो चैपाली लोग बेचैन हो उठे क्योंकि सबने अपने कान इस दिशा की ओर मोड़ लिए थे।

“कहो न... क्या कहना चाहते हो?” मनोरम पाण्डे ने कुछ उतावली से कहा।

“अगर शहर की तरह गाँवों में काम पैदा हो जाएँ, तो हमें कहीं जाने की ज़रूरत नहीं है।”

“तो वही तो मैं कह रहा था लोग शहरों की ओर चले जाते हैं तो गाँव खाली हो जाते हैं।” मनोरम पाण्डे बीच में बोल पड़े, “पर बेटा खण्डहरों की कहानी दूसरी है... तू नहीं समझ पायेगा अभी...।”

हुक्के की चिलम का फेरा लोगों के बढ़ते घेरे के कारण थोड़ा धीमा पड़ गया था।

तभी मोटर सड़क पर उस इलाके का अकेला घोड़े वाला सूरत सिंह दिखाई दिया।

मनोरम पाण्डे ने उसी दिशा की ओर देखना शुरू किया बोले -- “कुछ बरस पहले सड़कों की जगहों पर छोटी-छोटी पगडंडियाँ थीं। तब ढेरों घोड़े सुबह से शाम यहाँ चलते रहते थे। कभी वे सामान ढोकर ला रहे हैं। तो कभी गाँव का अनाज कस्बों की तरफ़ ले जा रहे हैं...” मनोरम पाण्डे ने बात बीच में रोकी और ज़ोर से बोले, “आ भाई सूरतु... तेरी सूरत तो बड़े दिनों बाद दिखाई दे रही है।”

घोड़े वाला पास आया और बोला -- “पाय लागू चाचा जी ! वो इधर तो काम था नहीं। मैं खास पट्टी की तरफ़ चला गया था।”

“अरे बिना काम तू वहाँ गया।”

“नहीं जी... काम से ही गया था।”

“काम मिला ना।”

“जी वो हमारे पंडी जी हैं न... जोशी जी।”

“हाँ हैं ना।”

“उन्हीं का सामान पौचाना था सो मैं बिना सोचे चला गया। पता चला वे तो आजकल धंधा बदले हुए हैं।”

“क्या कह रहा है तू।”

“मैं वहाँ गया तो फिर वहीं रह गया। बात ये है कि कुछ गाँव वाले मुनिकी रेती में नये बसे लोगों के साथ बसने को तैयार हो गये हैं।”

“अरे ! हम भी तो वैसी ही बातें कर रहे हैं यहाँ।”

“पर मैं तो घबरा गया चाचा जी।”

“क्यों तू क्यों घबरा रहा है।”

“बात ये है”, इतना कह कर वह खाँसने लगा। उसकी खाँसी ही नहीं रुक रही थी।”

“लाओ भाई ज़रा पानी लाओ तो।” मनोरम पाण्डे ने आवाज़ दी और इधर-उधर देखने लगे। “अरे कोई लाओ न भाई।”

बड़े मास्टर जी उठे और सामने के मकान में घुस गये। लौटे तो हाथ में लोटा था।

“ले सुरतू बेटा, थोड़ा पानी पी ! कुछ आराम मिलेगा।”

“जी”, कह कर उसने लोटा हाथ में ले लिया। पर पानी पीने की बजाय अंजुरि में भर कर अपने मुँह पर छिड़कने लगा।

“यह क्या कर रहा है ?”

“बात ये है चाचा जी कि पानी पीने की ज़रा भी चाह नहीं है।”

“अबे पी !”

“नहीं जी”... सुरतू ने लोटे को अपनी ओर आने की पाण्डे चाचा के ज़बर्दस्त दबाव को रोका तो पाण्डेय जी समझ गये कोई खास बात है। उनके चेहरे पर आए भाव दर्शा रहे थे कि कुछ-न-कुछ अनहोना-सा घट रहा है।

“मैं जी... मैं,” सुरतू बोलने लगा, “जैसे किसी को भूत छल देता है वैसी है ‘छैल’ लग गई है।”

“अबे क्या कह रहा है ? बेकार की बातें। स्कूल मास्टर अब क़रीब आ गये थे। उन्हें सुनाते जैसे मनोरम पाण्डे कह रहे थे, “सुना भाई लोगों इसे प्रेत ने अपने वश में कर लिया है। क्यों बे यही न ?”

“चाचा जी मेरी बात सुनोगे तो विश्वास कर लोगे कि हाँ, दूसरी दुनिया भी जीती-जागती और अपने भरोसे चलती-फिरती दुनिया है। उसे थोड़ा आँकने से हम भटक सकते हैं।”

“अबे तू कह क्या रहा है ? क्या तुझ पर भूत सवार हो गया ?” मनोरम पाण्डे थोड़े बेचैन हो गये थे।

“बस यही समझो,” वह बोलते-बोलते फिर खाँसने लग गया था।

“अजी पकड़ के पानी डाल दो गले के भीतर”, मास्टरो में एक बोला, “तभी खाँसी रुकेगी।”

“न... न...! मेहरबानी करो मुझ पर। मैं तो अब चिलम छूता भी नहीं हूँ।”

“आग लगे चिलम को।” किसी ने कहा, “ये बता तेरा ये हाल कैसा हुआ ? कहीं खासपट्टी में किसी ने जीते बगड़वाल का भूत तो नहीं चिपका दिया।”

“नहीं जानता जी मैं। पर मैं खच्चरों के साथ एक गाँव में गया तो खच्चरों ने गाँव के भीतर घुसने से इनकार कर दिया। वे बस बाहर पगडंडी पर ही अड़ गये। घास का लालच और चने की थैली भी उन्हें नहीं लुभा पाई।”

“पहेली न बुझा”, मनोरम पाण्डे ने उसे झिड़का, “तू बेझिझक बता दे, हुआ क्या था ?”

“नहीं जी। डर के मारे मेरे पाँव काँप रहे हैं। उस मामले की याद भी डरा देती है। उसे भूल कर ही आगे आदमी ज़िन्दा रह सकता है।”

“अब तू पगला गया है”, कोई गुस्से में बोला, “आजकल बुरंश फुला गये हैं उसी से इसके माथे पर कोई भूत चिपक गया है।”

वह चुप हो गया -- “ठीक है, अब नहीं बोलता” बोल कर जैसे लंबे समय के लिए उसने मौन धारण कर डाला।

“तूने देखा क्या ? वही बता न... बता बता बेटे, “उसे पुचकारते मनोरम पाण्डे बोले।

“नहीं चाचा जी ! अब नहीं। ज़िन्दा रहा तो आपके घर आकर बोलूँगा। पर अब नहीं।”

“अच्छा देख, डर मत ! जो भी तूने देखा-भोगा, झेला है मुझे बता दे ! मैं बस अपने ही सीने में रख लूँगा उसे। और हाँ -- मुझ पर भरोसा रखा।” मनोरम पाण्डेय के पुचकारने का असर हुआ। और वह खाँसते-खाँसते दम लगाने के लिए नहीं बल्कि सुलगती चिलम को दूर रखने के लिए लपका और उसने चिलम मय हुक़े के एक दूसरे पेड़ की डाल से टिका दिया।

“असल में खाँसी हुक़े के धुएँ से बढ़ आई थी। और मैं थोड़ा पहले से भी बेचैन था। मैंने खासपट्टी में नौ गाँव देखे।”

“अरे तू नौ गाँव हो आया ?”

“नहीं जी, मैंने गिने तो नौ गाँवों में अब सत्ताइस खण्डहर बढ़ आये थे। हर साल तीन घर खण्डहर हो रहे हैं। मैं तो डर गया। ज़रूर

किसी की नज़र लगी जो पहाड़ों के सुन्दर टिकाऊ घरों के आगे झाड़ियाँ बढ़ने लगीं...”

उसके बोलते ही सन्नाटा व्याप गया था।

“कहीं ऐसा तो नहीं,” थोड़ा बोलकर वह रुका तो सब लोग उसकी अगली बोल सुनने को जैसे अपनी साँस रोक कर उसकी तरफ़ झुक आए हों।

“कहीं ऐसा तो नहीं कि आपने सामने की इन पट्टियों में जल्दी ही गाँव छोड़ने शुरुआत होने लगे और यहाँ भी खण्डरात बनने लगेंगे।” वह बोला तो सब लोग किसी अनहोनी से डर से गये। “मैं तो खुद डरा हुआ हूँ। कई दिनों से आँख बंद करता हूँ तो डर जाता हूँ। आँख बंद करते ही सपने देखने लगता हूँ। देखता हूँ हिमालय दरक रहा है। हिमालय के ऊपर बादल नहीं समुद्र हैं। नहीं नहीं, मैं आँखे बंद नहीं कर सकता। खोलता हूँ तो वीराने और खण्डहर नज़र आते हैं। बाढ़ के बाद के सूने सन्नाटे देखे हैं न... वैसे ही।”

“ओह...” मनोरम पाण्डे बोले -- “कुछ करना पड़ेगा... परन्तु क्या?” यह कह कर वे चुपा गये। पंचानबे से ऊपर उम्र के मनोरम पाण्डेय को जो लोग जवानी से जानते हैं उन्हें याद होगा। वे खूब क्रिस्से सुनाते कि लोग भौंचक रह जाते।

लोग जहाँ बैठे थे, वह कहने के लिए चैपाल थी। उसके चारों ओर घर थे। पर घरों के बाहर उगी झाड़ियाँ और थोड़ी दूर पर सिर्फ़ अकेले घर जिनमें वर्षों से कोई नहीं रह रहा था। वे भी धीरे-धीरे खण्डहर हो जायेंगे...।

लोगों ने देखा मनोरम पाण्डेय थके-थके से उठे और अपने पड़ाव की ओर लौटने लगे।

अभी चाहे शाम पूरी तरह नहीं हुई थी। धीरे-धीरे वहाँ से जाते मास्टर लोग और अपने घरों को लौटते बच्चे दिखाई दिए...।

हरेक का अनुभव एक-सा था -- बड़ों का और बच्चों का भी, क्योंकि हर गाँव की दहलीज़ में कुछ ऐसा घट रहा था कि वहीं से एक खण्डहर अपने जन्म की गाथा के साथ उभर रहा था।

वह खण्डहर यादों का भी हो सकता है। हम हर वाक्य में कहते सुने जा सकते हैं -- पहले हमारा गाँव यहाँ से शुरू होता है... हाँ यहाँ से, जहाँ अब खण्डहर दीख रहा है।

न भी दीखे खण्डहर। जो लोग गाँव छोड़ चुके वे खण्डहर के बीज वहाँ छोड़ चुके।

खण्डहर के बीजों की खेती... देर से ही सही... पनपने लगी है...। मेरी आँखों के आगे फ़िल्मों में देखे वे शहर घूमने लगे जो खण्डहर हो

गये थे। पहाड़ों के वे गाँव जो धीरे-धीरे निर्जन होते गये और फिर खण्डहर हो गये... पहाड़ों में खासकर जो लोग बाहर बस जाते हैं उनके घर धीरे-धीरे खण्डहरों में तब्दील हो जाते हैं।

कितने ही घर देखें होंगे लोगों ने और अब सामान्य रूप से स्वीकृत-सा हो गया था हरेक घर के बगल में कहीं कोई झाड़ी तो नहीं उग रही हो...।

लेकिन अब जब इतने खण्डहरों के दृश्य स्मृति में लहराने लगे हैं तब यह डर भी कँपाने लगा है कि देवदारु वनों या चीड़ के वनों में जो सीढ़ीदार जगहें बनी हुई हैं कहीं वे खण्डहर पूर्व की ऐतिहासिक खेती बाड़ी तो नहीं है ?

“सचमुच”... वे कहीं किसी अतीत की बुनावटें थीं। उन पर हमें अब सिर्फ़ यह तय करना था कि वे खेत थे और कभी उन पर लोग उसी तरह से अपने भविष्य की खुशहाली के सपने बुनते थे और मेहनत करते थे। पर क्या ऐसा सच के खाते में दर्ज़ किया जा सकता है ? क्या कोई प्रमाण इसी के बीच से नहीं उभरता ?

दूर से या पास से, मैं उन्हें देख रहा था तो अचानक ही मैंने देखा हर कल्पना का गहरा रिश्ता सच से होता है। खेतों से सटे पत्थरों से सजे वे पुष्ते देखकर मैं सकते में आ गया। वे सचमुच पहाड़ी खण्डहर थे। हाँ, पहाड़ी खण्डहर जो वर्षा, हवा, बर्फ़ के कारण हर मौसम बदलने के लिए अभिशप्त...।

आप कभी खुद पहाड़ों की ओर जायें और सिर्फ़ बनानियों यानी वन प्रदेश की सैर करें तो आपको अचरज होगा कि पेड़ भी जैसे एक पाँत पर लगे हैं।

एक पाँत पर -- अरे हाँ दूर से देखो तो ग़ज़ब की कलाकृतियाँ-सी दीखती हैं प्रकृति की ये रचनाएँ। एक पाँत में खड़े पेड़। यह तो दूर से भी दिखाई देता है। तो पास जाओ और पास जाने पर पायेंगे कि वे सीढ़ीदार खेतों की तरह की बुनावट की तरह के ही हैं। तो मामला साफ़ है कि वहाँ कभी लोगों की बस्ती रही होगी और उन्होंने ही वे खेत बनाए होंगे। तो खुद उनके मकान कहाँ रहे होंगे ? तो अब खोजना ही पड़ेगा खण्डहरों को।

अब तो मानना ही पड़ेगा कि अतीत के भी खण्डहर अवश्य कहीं हैं -- और उनका गहरा रिश्ता हमारी आज की चिन्ता से है... तो उन्हें खोज निकालना ही पड़ेगा। कौन बनाता है मकान और कौन उन्हें तब्दील होने देता है खण्डहर में... एक मामूली-सा मटकीड़ा... मिट्टी का कीड़ा... एक बड़े ढेर को मिट्टी के कणों में बदलने का काम करता है जैसे ही उसे पता चलता है कि बेरहम वर्षा उसे बेदखल करने वाली है तो... और यहाँ कितनी बेरहमियाँ हैं... वे सब की सब उगा देती है झाड़ियाँ... नीचे धरती के नीचे अज्ञात सुराखों के सहारे कमज़ोर कर

देती हैं उन दीवारों को जो हाथों ने सपने पूरे करने की नीयत से खड़ी की थी...।

और अब साँझ के पीछे-पीछे चली आ रही थी अंधेरे की अदृश्य दीवार... बेरोक-टोक दीवार... उससे टकराना नहीं पड़ता वह फैलती ही रहती है...।

साँझ के साथ ही हवा ने ठंडक फैलानी शुरू कर दी थी। चैपाल खाली होने का यह भी सबब हो सकता था।

वहाँ से लौटते लोगों के साथ अंधेरे का सगा भाई झिटपुट अंधेरा भी पहले निचली घाटियों में फैला और अब अपनी उत्तर की यात्रा में ढलानों से ऊपर चढ़ रहा था। लालिम किरणों से सज्जित हिमशिखर अब सफ़ेद-सफ़ेद थिगलियों की तरह क्षितिज से उभर रहे थे।

और अंधेरा था कि तमाम चीज़ों को अदृश्य और अपरिचय की समानता में ढाल रहा था। सारी जागती हुई चीज़ें अंधेरे में विलीन हो छोटे-छोटे उजाले के द्वीपों में घरों के कमरों, कोनों में सिमट रही थीं।

अंधेरा खण्डहरों का सबसे प्राचीन साथी है जो उजालों में अपना रूप बदल डालता है और अपरिचय के एक ऐसे इतिहास में तब्दील होने लगता है कि सिर्फ़ ईंट, गारे, पत्थरों के कंकड़ों में टूट-टूट कर समूचा वक्रत छिन्न-भिन्न हो जाता है।